RESEARCH EXPRESSION ISSN 2456-3455 Vol. V, Issue 7, March 2022

पश्चिम बंगाल के प्रान्तिक लोगों के सशक्तीकरण का अतिकथन (१९७७–२००१) : दलितों और महिलाओं के लिए विशेष संदर्भ

अर्नब अधिकारी
रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता 700050

भूमिका

राज्य स्तरीय मशीनरी पर कब्जा करने के बाद, सीपीआई (एम) ने वादा किया कि वे सुशासन प्रदान करेंगे और वैकल्पिक राजनीति को बढ़ावा देंगे। उन्होंने यह भी कहा कि वे राजनीतिक शक्ति का विकेंद्रीकरण करने जा रहे हैं और यह भी आश्वासन दिया है कि निचले तबके के लोग इससे लाभान्वित होंगे। लेकिन वास्तविकता उनके वादों से बहुत परे थी। राजनीतिक सशक्तीकरण के बारे में बंगाल के प्रान्तिक लोग खासकर दलित और महिलाएँ पीछे ही रहे। भारत में, 'जाति, महिला और राजनीति' से संबंधित कार्यों की संख्या बड़े पैमाने में है, क्योंकि हमारे देश में जाति न केवल एक महत्वपूर्ण तत्व है, बल्कि हमारे समाज की एक मौलिक संस्था भी है और अब लैंगिक मुद्दों का सवाल भी बहुत ही अनिवार्य है। हमें इन मुद्दों को इसकी पृष्ठभूमि के साथ समझने की आवश्यकता है। औपनिवेशिक युग की शुरुआत से ही आधुनिकीकरण और सदियों पुरानी विरासत की प्रगति के बीच एक परस्पर विरोधी और सहअस्तित्व के सम्पर्क थे। क्योंकि सामाजिक जीवन में यह मूल रूप से पारंपरिक है, और बहुधा पहचान और खंडीय विभाजन को सम्मिलित करते हुए यह पीढ़ियों के माध्यम से भारतीय सभ्यता को चित्रित किया था। जैसा कि भारतीय सामाजिक प्रणाली पारंपरिक रूप से जाति विभाजन पर आधारित है, राष्ट्रीय स्तर या राज्य स्तर या 'ग्रासरूट' स्तर पर राजनीतिक प्रतिनिधित्व पर जाति की संस्था का प्रभाव अक्सर होता है। लेकिन महिला सशक्तीकरण की आवाज हमेशा गौण बनी रही। बंगाल के मामले में, हमने शुरुआत से ही चिरस्थायी बंदोबस्त के कारण पाया, पश्चिमी शिक्षा, व्यापार और कॉमर्स के कारण, बंगाल के शहरी इलाकों में ग्रामीण एलिट भूमि–स्वामी और मध्यम वर्ग के उभरने का मौका मिला है। इस तरह के विकास ने एक स्थानीय भूमि–स्वामी समूह के उद्भव को प्रतिबंधित कर दिया और परिणामस्वरूप स्थानीय रूप से प्रमुख जाति के कामकाज को रोक दिया। इस प्रकार बंगाल में जाति व्यवस्था कमजोर हो गई है। इस घटना ने 'भद्रलोक[1] बंगाली' लोगों के भीतर पितृसत्तात्मक मानसिकता की मजबूत पकड़ भी स्थापित की। लेकिन बंगाल के शक्तिशाली मध्यम वर्ग के रूप में, जिन्होंने तीनों उच्च जातियों (ब्राह्मण, वैद्य और कायस्थ) के कुलीन सदस्यों ने लगभग हर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन में नेतृत्व प्रदान किया।[2] पश्चिम बंगाल की राजनीति में उच्च जाति समूहों की यह प्रबलता ही वास्तविक है। अब इस पत्र में पश्चिम बंगाल की संसदीय राजनीति और वर्ग राजनीति में जाति–वर्ग समीकरणों, जाति की गतिशीलता और महिला प्रतिनिधित्व की ओर से राजनीतिक प्रतिनिधित्व की समग्र स्थिति को देखने का प्रयास किया गया है। यह अध्ययन इस बात को स्पष्ट रूप से बताता है कि किस प्रकार लेफ्ट की वर्गीय राजनीति दलितों और महिलाओं को मौजूदा सत्ता संरचना से अलग कर देती है, अर्थात् बंगाल की मुख्य राजनीतिक पार्टी मध्यम वर्ग, उच्च और मध्यम जाति, राजनीतिक पदानुक्रम पर पितृसत्तात्मक आधिपत्य को कैसे बनाए रखती है।

1. वाम शासन में निचली जाति के लोगों के राजनीतिक सशक्तीकरण की स्थिति

पश्चिम बंगाल के मार्क्सवादी कभी भी 'जाति' को एक महत्वपूर्ण घटना नहीं मानते हैं। वीनर के अध्ययन के अनुसार, पश्चिम बंगाल के राजनीतिक नेताओं (1958) में, कम्युनिस्ट नेता कांग्रेसियों की तुलना में अधिक ब्राह्मण श्रेणी के प्रतीत हुए, क्योंकि 75 में से 27 कम्युनिस्ट नेता ब्राह्मण थे, जबकि केवल 5 कायस्थ समूह के थे।[3] मार्क्सवादी–वाम नेताओं में भी, 41 में से 15 ब्राह्मण श्रेणी के थे, जबकि 7 कायस्थ समूह से आए थे। पश्चिम बंगाल में, सवर्णों को 'भद्रलोक' शब्द से और निचली जाति को 'छोटोलोक' के रूप में जाना जाता है, और जो भद्रलोक के 'अन्य' को दर्शाता है, वे सांस्कृतिक–वैचारिक स्तर पर गहराई से समृद्ध हुआ है, जो सचेत संघर्ष के बिना शोषितों के दृष्टिकोण से दलित के पक्ष में सामाजिक समीकरण को संभवतः नहीं बदल सकते। शोषितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाले वामपंथियों से उम्मीद की जाती है कि वे इस राज्य में प्रचलित जाति–वर्ग अनुरूपता को बदलने के लिए इस दृष्टिकोण को अपनाएंगे। इस राज्य में जाति–वर्ग के अतिव्यापी भी बहुत प्रमुख हैं, जहाँ एस.सी.–एस.टी. के लोग ज्यादातर ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन और गरीब किसानों के वर्ग के हैं और शहरों और कस्बों में रहने वाले मजदूर वर्ग शहरी स्तर पर हाशिये पर हैं। इसलिए एस.सी. समुदायों का दावा कई जन

* Corresponding Author: adhikaryarnabju@gmail-com • Mob. 9474715564

संघर्षों का परिणाम हो सकता है, जिसकी विरासत वाम ओर से संबंधित है। लेकिन 1980 और 1990 के दो दशकों में विशेष रूप से कई महत्वपूर्ण संघर्षों के बावजूद, जिसमें राज्य के दबे-कुचले लोग, जिनमें विशेष रूप से एस.सी., एस.टी. समुदाय शामिल थे, ने महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया। लेकिन वाम दलों में नेतृत्व की स्थिति उच्च जाति के 'भद्रलोक' के हाथों में मजबूती से बनी हुई थी जहाँ एस.सी. जाति और आदिवासी समुदाय बहुत दूर रहे हैं। उल्लेखनीय रूप से, जाति के सवाल को दरकिनार करते हुए, वाम नेतृत्व ने हमेशा पश्चिम बंगाल को एक ऐसे स्थान के रूप में पेश किया है जो जाति पूर्वाग्रहों से मुक्त है और जहाँ जातिगत दृष्टिकोण अब प्रासंगिक नहीं है।

जाति के विषय पर सीपीआई (एम) के संकल्प ने पश्चिम बंगाल की लेफ्ट फ्रंट सरकार को दलितों और आदिवासियों के पदों में सुधार के लिए चिन्हित किया। उन्होंने आरोप लगाया कि पूर्व लेफ्ट सरकारों (पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा) ने पिछड़ी जाति के लोगों के लिए और जनजातियों के लिए कुछ उल्लेखनीय काम किया है। उनके अनुसार पश्चिम बंगाल में, कम्युनिस्टों ने राज्य के गौरवशाली सामाजिक आंदोलनों की समृद्ध विरासत को आगे बढ़ाने के लिए अभ्यारा में जागरूक प्रयास किए।[4] विडंबना यह है कि 2006 में यह माँग की गई थी और उसी वर्ष जब वाम मोर्चा ने पश्चिम बंगाल में शानदार जीत हासिल की और ऐसा लगता था कि वे अगले कुछ दशकों तक पश्चिम बंगाल पर शासन करेंगे, भारत में वामपंथी विचारधारा वाले अधिकांश वामपंथी बुद्धिजीवी पश्चिम बंगाल में उच्च जाति के वर्चस्व के प्रसार से शायद ही सहमत होंगे और वामपंथी राजनीतिक संगठन में अपनी उपस्थिति को छोड़ दें। लेकिन जो स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और आधिकारिक ऑकड़ों द्वारा पुष्टि की जाती है, वह यह है कि उपनिवेशवादी दौर में राज्य के सभी क्षेत्रों में पिछले तीन-चार दशकों के दौरान, राजनीति के क्षेत्र में निचली जातियों का महत्वपूर्ण जोर होते हुए भी वामपंथी शासन के तीन और साढ़े तीन दशकों के बाद भी राजनीति में उच्च जाति का वर्चस्व बरकरार था।

वाम मोर्चा शासन (1977–2011) में चुनावी राजनीति पिछले चरण से पूरी तरह से अलग थी। 1977 में स्पष्ट बहुमत के साथ एलएफ के उदय ने पश्चिम बंगाल की राजनीतिक स्थिरता को मौलिक रूप से बदल दिया था। लेफ्ट ने एससी को सफलतापूर्वक अपने पक्ष में लामबंद कर लिया था। फिर से एस.सी. आरक्षित सीटों की संख्या 55 से बढ़घकर 59 कर दी गई। एलएफ ने 1977 में एस. सी. पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया। पूरे उत्तर बंगाल में 12 में से वाम दलों को 10 एससी सीटें मिलीं (सीपीआई (एम)– 7, फॉरवर्ड ब्लॉक–2, आरएसपी–1) जबकि कांग्रेस को केवल दो सीटें (पश्चिम दिनाजपुर) मिलीं। दक्षिण बंगाल में, कांग्रेस को केवल 1 एससी सीटे (मिदनापुर) मिली, जबकि एलएफ को 39 एससी सीटें मिलीं। एसयूसी और जनता दल को क्रमशः 3 और 4 एससी आरक्षित सीटें मिलीं। एलएफ को 1982 में अधिक सफलता मिली जब उसने 54 एससी आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों [सी पी आई (एम)– 42, फॉरवर्ड ब्लक–5, आरएसपी–3, एमएफबी–2, सीपीआई–1, आरएसपीआई–1] पर कब्जा कर लिया, और कांग्रेस और एसयूसी को केवल क्रमशः 3 और 1 एससी सीटें मिली थीं। 1987 में और 1996 के विधानसभा चुनावों में भी यही कहानी दोहराई गई। 1987 के विधानसभा चुनाव में 58 एससी आरक्षित सीटों में से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस केवल 3 सीटें पाने में सफल रही, जहाँ लेफ्ट 53 सीटों [सीपीआई (एम)–43, एफबी–4, आरएसपी–5, सीपीआई–1] पर कब्जा करने में सक्षम थीं और 1996 के चुनाव में कांग्रेस केवल एस सी के लिए आरक्षित 08 सीटों पर जीती थी। इस चुनाव में लेफ्ट 50 आरक्षित सीटों [सीपीआई (एम)–40, एफबी–5, आरएसपी–4, सीपीआई–1] का प्रबंधन करने में सफल रहे।[5] एल एफ ने एससी पर 1996 तक विरोधियों पर किसी भी मुसीबत के बिना अपना पूर्ण नियंत्रण बनाए रखा। लेफ्ट्स, विशेष रूप से सीपीआई (एम) राज्य के लोगों पर अच्छी तरह से स्थापित कैडर–आधारित राजनीतिक नियंत्रण रखने वाली एक अपरिहार्य शक्ति के रूप में दिखाई दी। एससी या तो सीपीआई (एम) या उसके सहयोगियों जैसे एफबी, आरएसपी और सीपीआई, एलएफ सरकार के नियंत्रण को पार नहीं कर सकते हैं।

हालाँकि, एलएफ को सुश्री ममता बनर्जी के नेतृत्व में नवगठित ए आई टी एम सी से 2001 में कुछ चुनौती मिली। 2001 के विधानसभा चुनाव में ए आई टी एम सी ने 7 एस सी सीटों पर कब्जा कर लिया था और कांग्रेस केवल 3 एस सी सीटों पर कब्जा कर सकी थी, जहाँ 48 आरक्षित सीटों (सीपीआई (एम)–37, आरएसपी–4, फॉरवर्ड ब्लॉक–5, डब्ल्यूबीएसपी–1, सीपीआई–1) पर वामपंथी दल एस सी पर अपना नियंत्रण बनाए रखते हैं। इस समय से कांग्रेस बंगाल की राजनीति में निम्न स्थान पर चले गये। बुद्धदेव भट्टाचार्य का करिश्माई नेतृत्व उनकी पार्टी को एक उच्च पद पर ले जाता है, जहाँ सभी विरोध अप्रासंगिक हो गए। मुख्यमंत्री के रूप में श्री बुद्धदेव भट्टाचार्य के साथ एल एफ सरकार (2000–2011) ने 2006 के विधानसभा चुनावों में ए आई टी एम सी का सफाया कर दिया और उन्होंने 59 (सीपीआई (एम)–44, फॉरवर्ड ब्लॉक–5, आरएसपी–4, डब्ल्यूबीएसपी–1) में से 54 सीटों पर जीत हासिल की थी।[6] लेफ्ट ने ना केवल एससी के बीच अपनी खोई स्थिति को फिर से हासिल किया, बल्कि कांग्रेस और एआईटीएमसी को राजनीतिक प्रतिस्पर्धा से भी बाहर कर दिया। विरोधियों को केवल पांच एससी आरक्षित सीटें मिलीं। तो 1977 से 2006 तक की चुनावी राजनीति बताती है कि लेफ्ट ने एस सी–वर्चस्व वाले निर्वाचन क्षेत्रों को सफलतापूर्वक अपने पक्ष में कर लिया था। एससी आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों (59) में, उनकी ताकत 81 प्रतिशत (48 सीटें) से 92 प्रतिशत (54 सीटें) तक भिन्न होती है। दलित विधायक इस प्रकार 'गरीबों के वर्ग–आधारित' और 'तथाकथित गरीब वर्ग के सशक्तीकरण' के वर्ग–आधारित राजनीतिक प्रचार के सख्त नियंत्रण में 2010 तक बने रहे। पश्चिम बंगाल की निचली जाति के लोग कभी भी बंगाल में एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में नहीं उभरे।

वाममोर्चा सरकार में दलितों की स्थिति

1977 में ज्योति बसु के मुख्यमंत्रित्व काल में लेफ्ट का उभरना भारत और विदेशों में एक बहुत चर्चित राजनीतिक मुद्दा रहा है। उन्होंने सरकार में कुछ बदलाव किए। एलएफ के लिए यह एक बड़ा काम बन गया है कि एलएफ भागीदारों के बीच पोर्टफोलियो के वितरण के संबंध में सरकार के भीतर एक संतुलन बनाए रखें। इसलिए, एस सी के लिए मंत्रालय में अपनी उपस्थिति स्थापित करना बहुत मुश्किल था। हालाँकि लेफ्ट ने 1977 में एस सी को सफलतापूर्वक अपने पक्ष में कर लिया था, लेकिन श्री कांति विश्वास (युवा सेवा और पासपोर्ट विभाग में राज्य मंत्री के रूप में नमसुद्र उपजाति) को छोड़कर, 30 मंत्रालय में एस सी की कोई उपस्थिति नहीं थी, सदस्य हैं। प्रतिशत के संदर्भ में, यह सरकार में अनुसूचित जातियों की सबसे कम (3.33 प्रतिशत) उपस्थिति थी। यह फिर से ध्यान देने योग्य बात है कि पश्चिम बंगाल के सभी दलित समुदाय सरकार से पूरी तरह से धो चुके थे। दूसरी एल एफ सरकार कमोबेश दलितों के लिए समान थी। उन्होंने कुल मंत्री पदों में से केवल 4.44 प्रतिशत पर कब्जा किया, हालाँकि एल एफ ने 1982 में 91.52 प्रतिशत एस सी आरक्षित सीटें हासिल कीं। हालाँकि, दूसरे एल एफ मंत्रालय ने प्राथमिक और माध्यमिक विभाग का प्रभार श्री बनमाली रे को सौंप दिया था, जबकि श्री जयंती विश्वास को प्रभार मिला आदिम जाति कल्याण और अनुसूचित जाति विभाग का। तीसरी एल एफ सरकार (1987–1991) के तहत दलितों को एक और मंत्रालय मिला। कांति विश्वास और बनमाली रे के साथ, श्री दिनेश चंद्र डाकुआ को मंत्रालय में एक पद मिला। चौथी एलएफ सरकार (1991–1996) में राजबंशी के दो मंत्रियों में से एक बाउरी से, एक और बागड़ी उपकास्ट से एससी मंत्रियों की संख्या में वृद्धि की गई। पाँचवीं एल एफ सरकार (1996–2001) में भी दलितों ने इस ताकत को बरकरार रखा, मंत्रालय में 10 प्रतिशत उपस्थिति [नमसुद्र उपजाति के कांति बिस्वास, दिनेश चंद्र डाकुआ और जोगेश चंद्र वर्मन राजबंशी उप–जाति के, निमाई मलमल उप–जातिके (राज्य मंत्री के रूप में) और बगड़ी उप–जाति की बिलाशी बाला साहिस] थी। ज्योति बसु के इस्तीफे के बाद भी इन सभी एससी मंत्रियों को अपने विभाग को बनाए रखने की अनुमति दी गई थी। बुद्धदेव भट्टाचार्य के मुख्यमंत्रित्व काल (2001–2011) के तहत, दलितों को और ताकत मिली। छठी एलएफ सरकार में, कुल मिलाकर आठ दलित मंत्रियों को 13.33 प्रतिशत की ताकत के साथ सरकार में (पाँच प्रभारी मंत्री और तीन राज्य मंत्री) जगह मिली, जबकि सातवीं एलएफ सरकार में, आठ एससी मंत्री (पाँच प्रभारी मंत्री और तीन राज्यमंत्री) ने सरकार में अपना स्थान बनाए रखा था। 1977 से 2011 तक एलएफ के शासन ने सरकार में एससी को हाशिए पर देखा था। केवल पिछली दो एलएफ सरकारों में, उन्हें आनुपातिक प्रतिनिधित्व (18 प्रतिशत) मिला, हालाँकि उनकी आबादी और विधानसभा सीट 23 प्रतिशत है।[7] वाम मोर्चा मंत्रालय हमेशा उच्च जाति के मध्यम वर्ग के वामपंथी नेताओं के प्रभुत्व में था। पूरे वाम शासन के दौरान इन दबे–कुचले लोगों को मार्क्सवादियों ने हमेशा बिना शर्त अपना समर्थन दिया, लेकिन बदले में उन्हें वर्ग राजनीति के नाम पर सत्ता के चक्कर में डाल दिया गया।

वर्ग और जाति के संबंध में डेमोक्रेटिक लेफ्ट की वैचारिक हठधर्मिता

पश्चिम बंगाल एकमात्र राज्य है, जहाँ 1972 और 1996 के बीच 20 साल की अवधि में उच्च जाति के विधायकों का प्रतिशत 38 प्रतिशत से बढ़कर 50 प्रतिशत हो गया है। 2001 में इस प्रवृत्ति को उलट दिया गया था, जब उच्च जाति के विधायकों का प्रतिशत 38 प्रतिशत से कम हो गया था, लेकिन राज्य सरकार में उच्च जाति के मंत्री अभी भी 41 प्रतिशत से अधिक थे। वास्तव में, 1977 में पश्चिम बंगाल विधानसभा में मध्यस्थ जातियों का प्रतिनिधित्व चरम पर था और तब से कमजोर और उतार–चढ़ाव रहा है– संयोग से, 1977 वह वर्ष था जब राज्य में वाम मोर्चा ने अपना निर्बाध शासन शुरू किया था, जबकि बिचौलियों ने 1991 में पश्चिम बंगाल में कुल जनसंख्या का 35 प्रतिशत अनुमानित किया था, वे राज्य विधानसभा में एक कमजोर उपस्थिति बनी हुई थी, 1952 में 4.3 प्रतिशत और 2001 में 6.1 प्रतिशत के बीच उतार–चढ़ाव, 9.5 प्रतिशत पर 1977 में, जिस वर्ष राज्य में वाम मोर्चा सत्ता में आया था। अध्ययन के अनुसार, जब 1991 में उच्च जातियों ने पश्चिम बंगाल की जनसंख्या का 10 प्रतिशत हिस्सा बनाया था, तब विधानसभा में उनका प्रतिनिधित्व 1977 में 45.9 प्रतिशत से बढ़कर 1996 में 49 प्रतिशत हो गया था, जो 2001 में घटकर 37.8 प्रतिशत हो गया। 1977 के बाद से वाम मोर्चा मंत्रिमंडलों में उच्च जाति के भद्रलोक का वर्चस्व और भी अधिक स्पष्ट है, जो 1982 में 81.8 प्रतिशत था।[8]

राज्य सत्ता में पार्टियों के बदलाव के बावजूद, पश्चिम बंगाल में जातिगत समीकरण नहीं बदला। समाजशास्त्री आशीस नंदी अपने अवलोकन में सही मानते हैं कि पिछले 100 वर्षों में पश्चिम बंगाल में अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी), पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से कोई भी कहीं भी सत्ता में नहीं आया है।[9] समाजशास्त्री मधुसूदन घोष कहते हैं, "Brahmins and the upper castes have always held the most important and powerful portfolios in this state, irrespective of the party or coalition in power. It is indeed a paradox, but a very shameful one, that a state which has produced such great social reformers continues to keep the SCs, STs, OBCs and minorities out of power." वे और भी कहते हैं, एससी, एसटी, ओबीसी और अल्पसंख्यकों को सत्ता से बाहर रखना जारी है। वास्तव में, वह बताते हैं कि ब्राह्मण और उच्च जातियाँ मध्य और उच्च नौकरशाही, पुलिस बल, विभिन्न व्यवसायों और यहाँ तक कि बंगाल में शिक्षाविदों की संख्या में एससी, एसटी, ओबीसी और अल्पसंख्यकों को पछाड़ती हैं और ब्रिटिश शासन के दौरान भी यह मामला था : 1892 से जब पहली बार निकाय चुनाव हुए थे, बंगाल प्रांत सभा के अधिकांश सदस्य, ब्राह्मण और सवर्ण थे।[10]

बंगाल के वामपंथी शासन के पहले दशक के बाद, प्रख्यात विद्वान भारती मुखर्जी ने अपनी जाति के बारे में राजनीतिक नेताओं पर एक आकलन किया। और उन्हें कुछ दिलचस्प परिणाम मिले। उनके तीन उच्च जाति समूहों के अनुसार, ब्राह्मण, वैश्य और कायस्थ ने कुल नेतृत्व (कम्युनिस्ट, गैर–कम्युनिस्ट दोनों) के प्रत्येक समुह में नेताओं का सबसे बड़ा प्रतिशत–कुल 84 प्रतिशत का प्रस्तुत किया है। ऊँची जाति के लाभ के बीच, कायस्थ समूह दोनों विजेता समूहों में अधिक प्रमुख है, सभी दलों में कुल नेतृत्व का 44 प्रतिशत। ब्राह्मण ने दूसरे स्थान पर कब्जा कर लिया। भारती मुखर्जी ने कहा कि कम्युनिस्टों के बीच इंटरव्यू देने वाले कुल नेताओं में से 32 प्रतिशत ब्राह्मणों के हैं। गैर–साम्यवादी ने भी ब्राह्मण नेतृत्व के उच्च प्रतिशत का गठन किया है।[11]

इन अध्ययनों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजनीति में उच्च जाति का प्रतिनिधित्व वाम शासन में नहीं घटा, बल्कि बढ़ा। साम्यवादी दल वर्गविहीन विचारधारा पर आधारित हैं। वैचारिक रूप से कम से कम, 'निम्न जातियों' के लिए कोई संरक्षण या विशेष विचार इस तरह के प्रतिबद्ध संगठन से खुले तौर पर दावा नहीं किया जा सकता है। किसी भी तात्कालिक उपयोगितावादी उद्देश्य को पूरा करने में असफलता, शायद आंशिक रूप से जिम्मेदार थी कि निम्न जातियों के चौंपियन से निम्न जातियों को अलग करना। यह समस्या सीपीआई (एम) की राजनीतिक संस्कृति के भीतर थी। मर्कस फ्रांडा ने सही ढंग से लेफ्ट की बुनियादी विशेषताओं को इंगित किया। उन्होंने 1971 में कहा कि 'Communism in West Bengal has always been elitist. The leadership of the movement has been drawn from rich, influential and highly respected Bengali families and it's most consistent followers have come from the groups that are relatively well established in the social structure.'[12] बंगाल में कम्युनिस्टों ने जाति को भारतीय समाज में अभाव और अभाव के लिए एक निर्धारक कारक के रूप में मानने से इनकार कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप, बंगाल में पिछड़ी जाति की भीड़ को मुख्य रूप से वर्ग–आधारित विचारों द्वारा संचालित किया गया है, क्योंकि उनकी सामाजिक पहचान ही उनके अधीनस्थ पदों पर आधारित है। इसके अलावा, इन सभी आंदोलनों, जिनमें नक्सली आंदोलन जैसे हिंसक आंदोलन शामिल थे, हमेशा उच्च जाति भद्रलोक के नेतृत्व में थे।[13]

शुरू से ही मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने इस समस्या को स्वीकार किया। कालीकट प्लेनम (1967) या मुजफ्फरपुर रेजोल्यूशन (1972) में, माकपा ने स्वीकार किया कि उनके विभिन्न नेता ग्रामीण मध्यम किसानों और कुलीन वर्ग से आते हैं। वे उनमें जातिगत संघर्ष की विचारधारा के बारे में चेतना व्यक्त करने में विफल रहे। इसके लिए पार्टी ने केवल चुनावी राजनीति में अपनी गतिविधियों को प्रतिबंधित कर दिया।[14] वास्तव में सीपीआई (एम) हमेशा वर्ग की राजनीति पर जोर देती है और जातिगत राजनीति से अपनी राजनीतिक गतिविधियों को घटाती है। कालीकट सत्र में माकपा ने यह जानने की कोशिश की कि इस संदर्भ में उनका राजनीतिक कार्य क्या होना चाहिए। उन्होंने तय किया था कि "the aspiration of our people for a new life and for a new society & a socialist society - can be achieved only by replacing the state of bourgeois - landlord classes led by the big bourgeoisie by a people's democratic state led by the working class. To achieve this broad people's democratic front of all anti-imperialist, anti-feudal and anti-monopolist forces and classes has to be built, the core and basis of which is the firm alliance of the working class and peasantry led by the working class."[15] इस परिदृश्य में लोकतांत्रिक लेफ्ट के अनुसार केवल एक सच्चे मार्क्सवादी–लेनिनवादी पार्टी ही सर्वहारा वर्ग के लोगों को सही मायने में लोकतांत्रिक मानदंड के संघर्ष का नेतृत्व करने में सक्षम हो सकती है। इसलिए, अपनी राजनीतिक विचारधारा के लिए, उन्होंने एक और महत्वपूर्ण वास्तविकता को नजरअंदाज कर दिया, यानी 'निम्न जाति के लोगों का सशक्तीकरण'।

लेफ्टों के राजनीतिक सशक्तीकरण के बाद, उन्होंने पश्चिम बंगाल में पार्टी के लिए पर्याप्त लाभ पाया है। भूमि नीतियों और पंचायत ने सरकार को लोकप्रिय बनाया है। ग्रामीण गरीबों और प्रमुख भागीदार के रूप में, सीपीआई (एम) को सबसे अधिक फायदा हुआ है। इस प्रक्रिया में, इसने गाँवों में मध्यम वर्ग और उच्च वर्गों की असहमति को जन्म दिया है, लेकिन पार्टी ने ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से कहीं ज्यादा बेहतर प्रदर्शन किया है। माकपा सरकार की नीतियों के पूर्वाग्रह का फायदा उठाने के लिए बाध्य है। अब गाँवों में पहले की तुलना में अधिक ध्यान दिया जाता है और विकास और कल्याणकारी उपायों का उद्देश्य मुख्य रूप से भूमिहीन मजदूरों और सीमांत किसानों पर किया जाता है जो भारी बहुमत का गठन करते हैं। इसने लाभांश का भुगतान किया है, कई दूरदराज के गाँवों में गरीब लोग पहली बार कुछ रचनात्मक प्रयास कर रहे हैं। इस विषय पर समालोचना है, और यह सब निराधार नहीं है, लेकिन माकपा यह धारणा बनाने में सफल रही कि यह एक गरीब आदमी की पार्टी है और इसके आलोचकों का इसमे निहित स्वार्थ है।[16] ये ग्रामीण गरीब लोग ज्यादातर अनुसूचित जाति समुदाय से आते थे। उनके प्रति सरकार के दृष्टिकोण ने उनकी आर्थिक देनदारियों और आजीविका की कुछ कमी को पूरा किया। इसीलिए वे वाम दलों के पीछे खड़े थे। लेकिन उनके राजनीतिक सशक्तीकरण के संबंध में, माकपा वर्ग–जाति के समीकरणों से संबंधित नहीं हो पाई।

2. वर्ग राजनीति का रूपक : वाम शासन में महिला सशक्तीकरण

भारत में संसदीय लोकतंत्र की शुरुआत से हमने पाया कि हाशिए के लोगों की आवाज़ के बारे में एक ख़ासकर महिलाओं का मामला था। पश्चिम बंगाल किसी भी मायने में इसका अपवाद नहीं है। हालाँकि लेफ्ट्स ने दावा किया कि वे उत्पीड़ितों के हक के लिए खड़े हुए

लेकिन अपने पूरे शासनकाल में उन्होंने महिलाओं के सशक्तीकरण को सुनिश्चित करने के लिए कभी कोई वैकल्पिक पहल नहीं की। चूँकि पार्टी के अधिकांश नेता पुरुष थे, इसलिए बंगाल में वाम शासन के दौरान समाज की उनकी महिला समकक्ष का सशक्तीकरण एक मिथक बना रहा। अपनी वैचारिक हठधर्मिता के कारण वे महिलाओं के सदा वंचित होने की अनदेखी करते थे। ऐसा लगता है कि वामपंथियों ने जानबूझकर इस सवाल को नजरअंदाज कर दिया है कि कैसे बंगाल में छोटे हिंदू मध्यम वर्ग के खाने का खंड आजादी के बाद से सभी क्षेत्रों में सत्ता और अधिकार पर एकाधिकार कर सकता है और राजनीतिक सत्ता के एकाधिकार की यह प्रक्रिया उनके पूरे शासनकाल में जारी रही। अब यह जाँचना आवश्यक है कि वाम मोर्चे के दौर में बंगाल की महिलाएँ मुख्य राजनीतिक दायरे से कैसे और क्यों पीछे रह गईं। और यह विश्लेषण करना भी महत्वपूर्ण है कि माकपा की वर्गीय राजनीति इसके लिए कितनी जवाबदेह थी।

वाम मोर्चे के शासन के दौरान 'कोर पॉलिटिकल सर्कल' में महिलाओं की भागीदारी

राजनीतिक भागीदारी प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली की एक स्पष्ट प्रक्रिया है। लेकिन यह अभूतपूर्व नहीं है कि हमारे समाज के विभिन्न क्षेत्रों में, राजनीतिक सत्ता पर केवल कुछ राजनीतिक प्राधिकरणों का ही एकाधिकार है और संस्कृति या धार्मिक हठधर्मिता या विचारधारा के नाम पर उन्होंने राजनीति में भाग लेने के लिए 'दूसरों' का विरोध किया। एन.डी. पामर के अनुसार, राजनीतिक भागीदारी व्यक्ति को प्रभावी बनाने में मदद करती है और यह उसे राजनीतिक प्रणाली के साथ जोड़ती है। दर और स्तर जितना अधिक होगा, भागीदारी के रूप उतने ही विविध होंगे, उच्चतर लोकतांत्रिक व्यवस्था में।[17] इस अवसर पर एल.डब्ल्यू. मिलब्रथ और एम.एल. गोयल ने कहा कि लोगों की इच्छाओं और इच्छाओं के प्रति सार्वजनिक कार्रवाई को बनाए रखने के लिए नागरिक को अपने सार्वजनिक अधिकारियों की पसंद में कम से कम भाग लेना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि "participation politics and in public debate helps to build a better and noble character". उनके अनुसार यह लोगों को एक मजबूत अच्छी तरह से संरचित लोकतांत्रिक समाज बनाने में मदद करता है जहाँ हर किसी की पसंद और अधिकार सुरक्षित हैं।[18] इसलिए, वास्तव में लोकतांत्रिक संवेदनशील राजनीतिक समाज के निर्माण के लिए, सत्ता के मुख्य घेरे में महिलाओं के बराबर प्रतिनिधित्व के माध्यम से सत्ता संरचना में किसी प्रकार का संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। अब, इस संदर्भ में वाम शासन में महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की स्थिति का विश्लेषण करना आवश्यक है।

महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए, दो खंडों में इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। पहला, पश्चिम बंगाल विधानसभा में महिलाओं का चुनावी प्रतिनिधित्व, लोकसभा में, और एलएफ मंत्रालय में, और दूसरा, महिलाओं का प्रतिनिधित्व माकपा के राजनीतिक संगठनों में। यह दूसरी बात हमें पार्टी के पितृसत्तात्मक ढांचे को समझने में मदद करती है। इसलिए, इस पर अलग से चर्चा करना बेहतर होगा। यदि कोई स्थानीय निकाय चुनाव सांख्यिकी के माध्यम से गया है, तो आँकड़े वास्तविकता को प्रतिबिंबित नहीं कर सकते हैं क्योंकि 73वें और 74वें संविधान संशोधन ने पंचायतों और नगर पालिकाओं में महिलाओं का न्यूनतम प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया है, यानी कुल संख्या का 33 प्रतिशत। क्षेत्र भी केवल महिला उम्मीदवार के लिए उनके राजनीतिक प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए भी आरक्षित हैं। यदि निर्वाचित सदस्यों में से आधी महिलाएँ हैं तो यह अनिवार्य है कि प्रधान या चेयरपर्सन या मेयर को महिला उम्मीदवारों से नियुक्त किया जाए। इसलिए, इस संदर्भ में भारतीय संविधान ने राजनीतिक दलों को महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए मजबूर किया। लेकिन सामान्य और विधानसभा चुनाव के मामले में कोई प्रतिबंध नहीं है। यही कारण है कि राष्ट्रीय और राज्य दोनों स्तरों पर अपने–अपने राज़नीतिक दलों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत उत्साहजनक नहीं है।

पश्चिम बंगाल में, विधानसभा चुनाव लड़ने वाली महिला उम्मीदवारों की संख्या बहुत हतोत्साहित करने वाली थी। यह सच है कि दोष केवल मार्क्सवादियों के पास नहीं था, क्योंकि यह एक सतत् प्रक्रिया है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि माकपा ने महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए कुछ नहीं किया। पहला राज्य विधानसभा चुनाव 1952 में हुआ था, जहाँ 13 महिलाएँ चुनाव लड़ी थीं[19] और केवल 2 निर्वाचित हुईं और उस विधानसभा में महिला सदस्यों का प्रतिशत केवल 0.8 प्रतिशत था। सातवीं विधानसभा चुनाव यानी 1972 के चुनाव में, आँकड़े निम्नानुसार थे– 11 महिला उम्मीदवार चुनाव लड़ीं, 5 सफल हुईं और विधानसभा में महिला सदस्य का प्रतिशत तब 1.78 प्रतिशत था।[20] लेफ़्ट के सशक्तीकरण के बाद भी परिदृश्य कमोबेश एक जैसा ही रहा। 1977 के चुनाव में कुल 27 महिला उम्मीदवार चुनाव लड़ीं और 4 सफल हुईं और इस साल विधानसभा में महिला उम्मीदवारों का प्रतिशत 1.36 था। लेकिन दिलचस्प तथ्य यह था कि सीपीआई (एम) की ओर से केवल 3 महिलाओं को चुनाव लड़ाया गया था। नौवीं विधानसभा चुनाव (1982) में जहाँ 23 महिलाओं ने चुनाव लड़ा था और केवल 7 निर्वाचित हुई थीं और इस विधानसभा में केवल 2.38 प्रतिशत सदस्य महिला थीं। इस चुनाव में केवल 5 महिला उम्मीदवारों को सीपीआई (एम) की तरफ से लड़ने के लिए टिकट मिला। अगला राज्य चुनाव 1987 में हुआ, जहाँ 26 महिलाएँ चुनाव लड़ीं और 10 विधायक चुनी गईं। दसवीं विधानसभा के दौरान महिला प्रतिनिधित्व का प्रतिशत केवल 3.40 प्रतिशत था। इस चुनाव में केवल 8 महिला उम्मीदवार सीपीआई (एम) के पक्ष में लड़ रही थीं। यदि कोई 1991 के विधानसभा चुनाव के आँकड़ों से गुजरा, तो समग्र स्थिति में बहुत सुधार नहीं हुआ। इस चुनाव में केवल 27 महिलाओं ने भाग लिया और 21 सफल रहीं और इस ग्यारहवीं विधानसभा सत्र के दौरान केवल 7.62 प्रतिशत सदस्य महिलाएँ थीं। इस विधानसभा में केवल 17 महिलाओं को मुख्य सत्ताधारी पार्टी से टिकट मिला। अगला राज्य चुनाव 1996 में हुआ,

जहाँ राज्य के मुख्य प्रमुख राजनीतिक दलों से 55 महिलाओं ने चुनाव लड़ा और 20 सफल हुईं और इस विधानसभा सत्र के दौरान केवल 7.40 प्रतिशत सदस्य महिलाएँ थीं। सीपीआई (एम) ने चुनाव लड़ने के लिए केवल 26 महिला उम्मीदवारों को टिकट दिया। बारहवीं विधानसभा सत्र (2001) के दौरान स्थिति कमोबेश ऐसी ही थी, 63 महिलाओं ने चुनाव लड़ा और 29 सफल रहीं और 9.83 प्रतिशत विधानसभा सदस्य महिलाएँ थीं। इस चुनाव में 26 महिलाएँ मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से लड़ीं।[21]

इसी तरह विधानसभा में महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की दयनीय स्थिति के आंकड़े संसद में महिलाओं की भागीदारी के संबंध में निराशाजनक स्थिति के बारे में बात करते हैं। 1980 और 1999 के बीच पश्चिम बंगाल की महिला सांसद (लोकसभा) की संख्या 2 से 5 तक भिन्न होती है। सातवीं लोक सभा (1980) में बंगाल से निर्वाचित महिलाओं की संख्या 2 थी, 1984 में यह बढ़कर 5 हो गई लेकिन अगले ही सत्र में (1989) यह घटकर 2 हो गयी थी। संसद के दसवें सत्र (1991–1996) के दौरान, संख्या केवल 3 थी, और फिर 1996 के चुनाव में यह बन गई 4. पिछली सहस्राब्दी के अंतिम दो लोक सभा चुनावों में, निर्वाचित महिला सदस्यों की संख्या केवल 5 थी।[22] इन चुनावों के दौरान जीतने वाली सांसद गीता मुखर्जी (सीपीआई) थीं, जो पांश्कुरा निर्वाचन क्षेत्र से लगातार 7 बार (1980–1999) के लिए चुनी गईं, बिभा घोष गोस्वामी [सीपीआई (एम)] ने 4 बार (1972, 1977, 1980, 1993), ममता बनर्जी (कांग्रेस और एआईटीएमसी) 5 बार (1984, 1991, 1993, 1998, 1999 और इसी तरह), संध्या बरुई [सीपीआई (एम)] 3 बार (1996, 1998 और 1999) के लिए, मालिनी भट्टाचार्य [सीपीआई (एम)] 2 बार (1989, 1991), इंदुमती भट्टाचार्य (कांग्रेस) एक बार (1984), कृष्णा बोस (कांग्रेस और एआईटीएमसी) 3 बार (1996, 1998, 1999), एक बार (1984) के लिए कोंताई से फूलरेनू गुहा (कांग्रेस), दो बार जलपाईगुड़ी से मिनाती डे [सीपीआई (एम)] (1998, 1999 और इसी तरह)। इन 20 वर्षों में केवल 5 कम्युनिस्ट सांसद चुने गए।[23]

राज्यसभा भी एक बहुत ही महत्वपूर्ण संवैधानिक निकाय है। विभिन्न राज्यों के निर्वाचित विधायक राज्यसभा के सांसद चुने गए। इसलिए, कभी–कभी यह दिलचस्प है कि राजनीतिक दल इस चीज़ में कैसे दिख रहे थे। कुछ अपवादों के बजाय, जब भी राज्यसभा की सीटें खाली हुईं, राजनीतिक दलों के लिए अपने उम्मीदवारों पर आसानी से जीत हासिल करना आसान काम है। और राजनीतिक दलों की मानसिकता तब परिलक्षित होती है जब उन्होंने अपने राज्यसभा उम्मीदवारों को चुना। इस चर्चा अवधि (1982–2001) के दौरान सीपीआई (एम) केवल 4 महिला सदस्यों को उच्च सदन में भेजती है, वे कनक मुखर्जी (03.04.1978 से 02.04.1990 तक दो बार), सरला माहेश्वरी (03.04.1990 से 02.04.1996 तक और 19.08.1999 से 18.08.2005 तक दो बार), चंद्र कला पांडेय (19.08.1993 से 08.08.2005) और भारती रॉय (03.04.1996 से 02.04.2002)।[24] दिलचस्प तथ्य यह था कि इन चार उम्मीदवारों में से दो सदस्य बंगाल से नहीं थे। इसलिए, यह स्पष्ट है कि सीपीआई (एम) कभी भी महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए बहुत अधिक नहीं है।

वाम शासन के दौरान बहुत कम महिलाएँ सत्ता और अधिकार के उच्च स्तर तक पहुँच पाई थीं। वस्तुतः यह घटना राज्य की सदियों पुरानी राजनीतिक संस्कृति की विरासत भी है। हालाँकि पश्चिम बंगाल में 1957–1966 तक लगभग एक दशक तक महिला राज्यपाल रहीं, लेकिन विधानसभाओं और राज्य मंत्रालयों में महिला प्रतिनिधित्व पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वामपंथियों ने भी इससे उबरने की कोशिश नहीं की थी। वर्ष 1977 में पहली वाम मोर्चा सरकार का गठन किया गया था और तब से उन्होंने 2011 तक अपना पद बरकरार रखा। 1977 के पहले एलएफ मंत्रालय में, 30 में से केवल एक महिला विधायक को राज्य मंत्री के पद के लिए चुना गया था और तब से दूसरा (1982) और तीसरा (1987) वाम मोर्चा सरकार में, हालाँकि यह 45 और 32 मंत्रियों को सीमित करता है, लेकिन लेफ्ट द्वारा केवल एक महिला विधायक के रूप में राज्य मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था। अंत में, एक फॉरवर्ड ब्लॉक के विधायक चाया घोष को 4 थी वाम मोर्चा सरकार के दौरान ज्योति बसु द्वारा कैबिनेट के रूप में नियुक्त किया गया। इस मंत्रालय ने एम ओ एस के रूप में 3 और महिलाओं को भी सीमित किया। लेकिन जब मंत्रालय की ताकत कुल मिलाकर 44 थी तब चार मंत्रियों की संख्या वास्तव में कुछ भी नहीं थी। पाँचवीं एलएफ सरकार के दौरान लेफ्ट्स अपने मंत्रिमंडल का विस्तार कर रहे थे और संख्या 46 थी, लेकिन इसने केवल एक महिला को कैबिनेट मंत्री और तीन को एमओएसके रूप में सीमित कर दिया। छठी एलएफ सरकार बुद्धदेव भट्टाचार्य के मुख्यमंत्रित्व काल में 2001 में गठित हुई और 48 मंत्रियों की संख्या के साथ यह सबसे बड़ा वाम मोर्चा मंत्रिमंडल बना। पांच महिला विधायकों (नंदरानी दल और चाया घोष कैबिनेट मंत्री के रूप में शामिल हुए और अंजू कर, बिलासी बाला साहिस और इभा डे को एमओएस के रूप में नियुक्त किया गया) को इस विशाल मंत्रिमंडल का सदस्य नियुक्त किया गया।[25] इन आँकड़ों का विश्लेषण करने के बाद कुछ दिलचस्प तथ्य सामने आए, जैसे पहले तीन एलएफ सरकार के दौरान कैबिनेट मंत्री के रूप में किसी महिला विधायक की भर्ती नहीं की गई। श्रीमती चया बेरा और श्रीमती नंद रानी दल केवल दो सीपीआई (एम) उम्मीदवार थे जिन्होंने इस अवधि के दौरान कैबिनेट मंत्री के रूप में काम किया था।[26] महिला मंत्रियों ने वाम मोर्चे की सरकारों के शासन के दौरान, हालाँकि, कम संख्या में विभागों को संभाला, जो राजनीतिक महत्व के मामले में बहुत महत्वपूर्ण या चुनौतीपूर्ण नहीं थे, जैसे, सामाजिक कल्याण, वयस्क और निरंतर शिक्षा, परिवार कल्याण, सहकारिता, कृषि विपणन और आदिवासी कल्याण। हालाँकि, परिवार कल्याण, पुलिस या वित्त जैसे मंत्रालय अभी भी पुरुष गढ़ बने हुए हैं और कभी भी किसी महिला के पास नहीं रहे। इस प्रकार सभी संवैधानिक निकायों में समान भागीदारी के माध्यम से राजनीतिक महत्व की कहानी अभी भी पूरे कम्युनिस्ट शासन के दौरान महिलाओं के लिए बनी हुई है।

सीपीआई (एम) की पितृसत्तात्मक राजनीतिक संरचना और महिला समकक्ष का अलगाव

तब क्या राजनीतिक भागीदारी में इस तरह की लैंगिक असमानताएँ पैदा हो रही हैं? मजबूत पितृसत्तात्मक परंपराएँ, धार्मिक और सामाजिक–सांस्कृतिक और वैचारिक मानदंडों के साथ मिलकर महिलाओं को राजनीति में सक्रिय भागीदारी से वापस लाने के महत्वपूर्ण कारक हैं। इनमें से कुछ विवश करने वाले कारक बहुत ही सूक्ष्म होते हैं और गहरे सामाजिक संबंधों से दूर होते हैं, जबकि दूसरों पर हावी होते हैं, जैसे कि कठोर भेदभावपूर्ण कानून। लेकिन एक परिपक्व लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में यह उम्मीद की जाती है कि प्रत्येक वर्ग के नागरिक को अपने समान अधिकार सुरक्षित करने के लिए विभिन्न राजनीतिक क्षेत्रों में भाग लेना चाहिए और उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेना होगा। सबसे उपयुक्त तरीका जिससे लोग निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग ले सकते हैं, राष्ट्रीय विधानमंडल, राज्य विधान सभा और स्थानीय–स्व–संस्थान जैसी संवैधानिक संस्थाएँ या तो सदस्य बन सकते हैं या उन्हें पार्टी की सदस्यता के लिए जाना चाहिए, सार्वजनिक बैठक में भाग लेने और शामिल होने के लिए निर्णय एक राजनीतिक दल का निकाय है। भारत की तरह एक संसदीय लोकतंत्र में हमेशा यह चिंता राजनीतिक दलों को रहती है कि वे तय करते हैं कि उनके उम्मीदवार के लिए कौन योग्य है। इस संबंध में यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि राजनीतिक भागीदारी की प्रकृति और सीमा की माप के बारे में, माकपा की राजनीतिक संरचना में महिलाओं की स्थिति क्या थी।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में, निर्णय लेने का राजनीतिक मार्ग आमतौर पर राजनीतिक दलों के माध्यम से व्यवस्था की ओर जाता है। विभिन्न आंदोलनों और गतिविधियों में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी के बारे में चर्चा करते हुए, सीपीआई (एम) से डब्ल्यूबीएलए की पूर्व सदस्य सुश्री ममता रॉय ने कहा कि राजनीति में महिलाओं की भागीदारी पर्याप्त सक्रिय नहीं है, दिन–पर–दिन महिलाओं का प्रतिशत सदस्य घट रहे हैं, उस स्थिति में निश्चित रूप से अधिक महिला राजनीतिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है।[27]

माकपा के वरिष्ठ नेता सरोजिनी बालनंदन ने एक बार कहा था कि पार्टी में पुरुषों का वर्चस्व है और कई नेताओं ने कभी–कभी "male feudalistic mentality" (पुरुष–सामंती मानसिकता) का समर्थन किया है।[28] कोई भी इन टिप्पणियों की प्रामाणिकता सीपीआई (एम) पार्टी की आंतरिक संरचना के भीतर पा सकता है। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि सीपीआई (एम) ने कभी भी एक बंगाली महिला को पोलित ब्यूरो सदस्य नहीं चुना। वास्तव में 2005 तक 18वीं पार्टी कांग्रेस सीपीआई (एम) ने अपने पोलित ब्यूरो में एक भी महिला को कभी नहीं चुना।[29] राज्य स्तर पर भी स्थिति लगभग यही थी। यह स्पष्ट होगा कि यदि हम बंगाल के सभी राष्ट्रीय दलों में महिला की संख्या और स्थिति से संकुचित होकर एक तालिका के माध्यम से जाते हैं।

पश्चिम बंगाल में चार राष्ट्रीय राजनीतिक दलों में महिलाओं की भागीदारी (2000)

पार्टी का नाम	पार्टी के कुल सदस्यों की संख्या	पार्टी के महिला संगठनों का नाम	पार्टी में महिला सदस्यों की संख्या	पार्टी में महिला सदस्यों का प्रतिशत	उच्चतम निर्णय लेने वाली संस्था में कुल सदस्य	उच्चतम निर्णय लेने वाले निकाय में महिला प्रतिनिधित्व की संख्या
भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)	2,65,000	गणतान्त्रिक महिला समिति	25,440	9.9%	85	8
भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी	70,156	पसचींबांगा महिला समिति	10,285	14.66%	9	1
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	3,50,000–40,00,00	महिला कांग्रेस	उपलब्ध नहीं	–	80	27
भारतीय जनता पार्टी	5,60,000	महिला मोर्चा	1,86,675	32.67%	11	1

स्रोत: सभी संबंधित राजनीतिक दलों द्वारा प्रदान किया गया डेटा। लेखक ने आँकड़ों की गणना की।

परिदृश्य की तालिका में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है, जहाँ हमने पाया कि महिला पार्टी सदस्य की संख्या में महिलाओं की भागीदारी या निर्णय लेने वाली समिति में उनकी उपस्थिति दोनों के संबंध में सबसे खराब स्थिति है। माकपा के अनिल बिस्वास ने कहा कि पार्टी में महिलाओं की सदस्यता सत्तर के दशक की शुरुआत में 60 प्रतिशत बढ़ी थी। 2000 में, जिला स्तर पर, 8 से 10 प्रतिशत सदस्य महिलाएँ थीं। माकपा के हर अग्र संगठन में महिलाओं का प्रतिनिधित्व पर्याप्त है। उन्होंने कहा कि प्रशासनिक और नीतिगत दोनों स्तरों पर महिलाओं की पार्टी में आवाज है। अनिल विश्वास ने आरोप लगाया कि हर पार्टी शाखा में महिला सदस्यों की संख्या में वृद्धि के लिए माकपा ने पहले

ही 2003 में लक्ष्य किया था। आमतौर पर प्रत्येक पार्टी शाखा में 9 से 10 प्रतिशत महिला सदस्य हैं और राज्य में 34,000 पार्टी शाखाएँ हैं। उन्होंने कहा कि पार्टी का अपनी नीतियों से परिचित कराने के लिए महिला कैडरों के लिए एक विशेष पाठ्यक्रम भी है।[30] लेकिन सांख्यिकीय डेटा, श्री बिस्वास ने जो कहा था उसके ठीक विपरीत दिखा रहे थे। वामपंथी नेता रेखा गोस्वामी ने मूल तथ्य को उजागर किया और कहा कि माकपा की महिला सदस्यों की संख्या इसकी महिला संगठन (गणतान्त्रिक महिला समिति) की ताकत को नहीं दर्शाती है। उसने सोचा सामंती अभिवृत्ति और पार्टी की भर्ती नीति इसके लिए जिम्मेदार थी।[31] हालाँकि श्रीमती गोस्वामी ने कहा कि जिलेवार अलग–अलग और साथ ही पुरुषों और महिलाओं के लिए संयुक्त सत्र आयोजित किए जाते हैं और 60 प्रतिशत से अधिक महिलाएँ इन सत्रों में नियमित रूप से भाग लेती हैं और महिलाएँ इनमें भाग लेने के बारे में अधिक गंभीर हैं। और पार्टी अपनी सामान्य नीति में महिलाओं की समानता पर भी जोर देती है और महिलाओं के अधिकारों को मानवाधिकारों के रूप में देखती है[32] लेकिन सीपीआई (एम) के निर्णय लेने वाले निकाय में महिलाओं की भागीदारी के बारे में इस समय के दौरान न्यूनतम बनी हुई थी।

कभी–कभी सीपीआई (एम) ने वास्तविकता को स्वीकार किया। अपने विभिन्न प्लेनम पार्टी में एक मजबूत महिला मोर्चा बनाने पर जोर दिया। लेकिन उनके पितृसत्तात्मक विचार और वैचारिक हठधर्मिता के कारण, माकपा ने कभी भी इस चीज़ में अपना ध्यान केंद्रित नहीं किया।[33] वास्तव में लेफ्ट को कभी भी किसी विशेष देखभाल के साथ निर्णय लेने वाली महिलाओं को लाने की कोशिश नहीं की गई थी। संदीप कुमार घटक ने इस विचार को एक अलग तरीके से समझाया था। उनके अनुसार, माकपा के पुरुष नेता कभी भी स्थानीय या ऊपरी दोनों स्तरों पर पार्टी के भीतर अपना नियंत्रण नहीं खोना चाहते। उन्होंने कहा कि स्थानीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी हमेशा संतोषजनक रही है। 1990 से पहले स्थानीय राजनीति में महिलाएँ या तो ऐसे राजनेता थे जो उच्च संस्थानों की सदस्यता खो चुके थे, या जिन्हें प्रचार के उद्देश्य से इस तरह का अवसर दिया गया था। ज्यादातर मामलों में, मकसद आंशिक रूप से इन कुछ महिलाओं की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए भी था, क्योंकि उन्हें तब आभासी राजनीतिक नियंत्रण में रखा जा सकता था और उच्च आकांक्षाओं से इनकार किया जाता था।[34] त्रिजीतागोंसाल्वेस बताती हैं कि पश्चिम बंगाल में राजनीतिक दलों का पितृसत्तात्मक दिमाग हमेशा से बहुत सामान्य था। सीपीआई(एम) कभी भी इसका अपवाद नहीं था। उनके अनुसार राजनेताओं ने शायद ही कभी 'लिंग' को एक अलग श्रेणी के रूप में ध्यान देने योग्य राजनीतिक महत्व दिया हो। जैसा कि वामपंथी विचारधारा और संस्कृति का 'gender' (लिंग) या 'feminist issues, feminism or women' (नारीवादी मुद्दों से संबंधित) किसी भी चीज़ से बेहद असहज संबंध है, नारीवाद या महिलाओं के मुद्दों को हमेशा संदेह की नज़र से देखा जाता है और इसे वामपंथी पार्टियों द्वारा पश्चिमी साम्राज्यवादी आयात के रूप में माना जाता है।[35] एक प्रख्यात विद्वान संघमित्रा सेन चौधरी 90 के दशक की शुरुआत में पश्चिम बंगाल में महिलाओं की सामाजिक–राजनीतिक संबद्धता के संबंध में एक केस स्टडी कर रही थीं। उसने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर जोर देकर अपना अध्ययन समाप्त किया। उनकी महिलाओं के अनुसार राजनीतिक रैलियों या बैठकों में बड़े पैमाने पर भाग लिया जाता था, वे भी वोट डालती थीं लेकिन नेतृत्व के बारे में महिलाएँ कम से कम दिलचस्पी लेती थीं। वह कहती हैं कि यह सदियों पुरानी परंपरा हो सकती है जो महिला सशक्तीकरण की राह में एक बाधा के रूप में खड़ी थी। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि लेफ्ट सहित मुख्य धारा के राजनीतिक दलों ने इस स्थिति को दूर करने के लिए कभी कोई व्यावहारिक पहल नहीं की।[36]

निष्कर्ष

वास्तव में उनके शासन के दौरान लेफ्ट को हमेशा दलितों और महिलाओं से पूर्ण अधीनता प्राप्त हुई थी। वाम मोर्चे ने पंचायत चुनावों के जरिए सत्ता का विकेंद्रीकरण किया। विभिन्न उदाहरणों में हमने पाया कि एससी–एसटी समुदायों के प्रतिनिधि पंचायतों की विभिन्न परतों और पदों पर चुने गए। लेकिन माकपा के उच्च जाति के नेता वास्तविक शक्ति का प्रयोग करते थे क्योंकि वे पार्टी पदानुक्रम के भीतर बेहतर स्थिति में थे। जैसा कि पार्टी के अधिकांश नेता उच्च जाति के पुराने वर्गों के थे, जिन्हें 'भद्रलोक' के रूप में जाना जाता था, निचले तबके और समाज के वंचित वर्गों का सशक्तीकरण बंगाल में वामपंथी शासन के दौरान एक मिथक या अतिकथन बना रहा। अपनी वैचारिक हठधर्मिता के कारण वे निचली जाति के समुदायों और महिलाओं के सतत् अभाव की अनदेखी करते थे। लेफ़्ट के इस अनुपात के कारण, इसने समाज में एक गंभीर जहरीला प्रभाव डाला। बंगाली लोगों की पीढ़ियों ने ऐतिहासिक दोषों और जाति की राजनीति या आरक्षण की आवश्यकता या महत्व को कभी संबंधित या समझा नहीं है। महिलाओं के संबंध में भी परिदृश्य समान रहा। माकपा की महिला सदस्यों ने वर्ग की राजनीति के नाम पर महिलाओं के साथ उनके समान अधिकारों को दबाकर प्रतीकात्मक हिंसा के खिलाफ कभी आवाज नहीं उठाई। अपनी वैचारिक हठधर्मिता के कारण लेफ़्ट ने दलितों और महिलाओं के सामान्य मुद्दों को वर्ग संघर्ष के सिद्धांत से कभी निर्दिष्ट या अलग नहीं किया। इस संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इन वर्षों के दौरान बंगाल में कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रयोग में जातिगत प्रश्न और विशेष महिला आंदोलन की कोई महत्वपूर्ण सैद्धांतिक स्थिति नहीं थी। राजनीतिक प्रतिनिधित्व के खेल का विश्लेषण करके, यह कहा जा सकता है कि सीपीआई(एम) एक पितृसत्तात्मक, मध्यवर्गीय, उच्च–मध्यम जाति के रूप में स्थापित हुई, जो कुछ हद तक अभिजात्य दल के ढांचे पर हावी थी, जहाँ निचले तबके के लोग और महिलाएँ अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा का आत्मसमर्पण कर रही थीं और पार्टी की सर्वोच्च कमाण्ड के अधीन थीं और पार्टी कमांड के अभिजात्य नेताओं का जो 'भद्रलोक' वर्ग पर हमेशा हावी रहा, कुछ खोखले वादों की ओर से अपनी राजनीतिक श्रेष्ठता सुनिश्चित की थी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पश्चिमी शिक्षित मध्यवर्गीय बंगाली, जिन्हें अक्सर 'बाबू' के नाम से जाना जाता है।
2. भारती मुखर्जी, *पालिटिकल कल्चर एण्ड लीडरशिप इन इंडिया : ए स्टडी ऑफ़ वैस्ट बेंगल,* मित्तल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृष्ठ 99.
3. मिरों वीनर, 'पोलिटिकल डेवलपमेंट इन द इंडियन स्टेट', मिरों वीनर (संपादित), *स्टेट पोलिटिक्स इन इंडिया,* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन–न्यू जर्सी, 1968, पृष्ठ 185.
4. कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (मार्क्सिस्ट), *रेसोलूशन अडोप्टेड ऐट द ऑल–इंडिया कनवेंशन ऑन द प्रोब्लेम्स ऑफ़ दलित्स,* नई दिल्ली, 22 फरवरी, 2006.
5. तथ्य लेखक द्वारा संकलित किया गया है। डेटा की गणना लेखक द्वारा 1977, 1982, 1987, 1996 के चुनाव रिकॉर्ड से की गई है। अधिक जानकारी के लिए देखें डी. बनर्जी, ईलेक्सन रिकॉर्डर : *एन अनालेटीकल रेफरेंस,* कोलकाता: स्टार पब्लिशिंग हाउस, 2012.
6. तथ्य लेखक द्वारा संकलित किया गया है। डेटा की गणना लेखक द्वारा 2001, 2006 के चुनाव रिकॉर्ड से की गई है। अधिक जानकारी के लिए देखें, *पूर्वोक्त*।
7. 1977–2009 की अवधि के बीच *आनंदबाजार पत्रिका, द स्टेट्समैन, द टाइम्स ऑफ इंडिया* जैसे समाचार पत्रों से लेखक द्वारा डेटा की गणना की गई है।
8. इंडियन एक्सप्रेस, 2 मार्च, 2010.
9. 'द कास्ट क्लब', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया,* 3 फरवरी, 2013.
10. *पूर्वोक्त*।
11. भारती मुखर्जी, *पोलिटिकल कल्चर ऐण्ड लीडरशिप इन इंडिया : ए स्टडी ऑफ़ वैस्ट बेंगाल,* मित्तल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृष्ठ 100.
12. मार्क्स एफ फ्रींडा, *रेडिकल पॉलिटिक्स बंगाल,* एमआईटी प्रेस, कैंब्रिज, 1971, पृष्ठ 6.
13. अनिकेत घोष, 'पोलिटिकल कॉलाप्स ऑफ बंगाल'स अप्पर कास्ट 'भद्रलोक' हेजीमॉनी ऐण्ड बी जे पी 'स प्राईज', आउटलुक, 23 जुलाई 2020.
14. आवर टास्क्स ऑन पार्टी ओर्गनाईजेशन', सीपीआईएम की केंद्रीय समिति द्वारा ग्रहण किया गया, कालीकट सत्र–1967 (28 अक्टूबर–2 नवंबर 1967); और सीपीआईएम की केंद्रीय समिति द्वारा अपनाए गए संकल्प को 9–15 मार्च, 1973 को अपनाया गया।
15. 'आवर टास्क्स ऑन पार्टी ओर्गनाईजेशन', सीपीआईएम की केंद्रीय समिति द्वारा ग्रहण किया गया, कालीकट सत्र–1967 (28 अक्टूबर–2 नवंबर 1967); *डोकुमेन्ट्स ऑफ़ द कम्युनिस्ट मूवमेन्ट्स इन इंडिया,* वॉल्यूम– XI, (1965–67),नेशनल बुक एजेंसी प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता, पृष्ठ 941.
16. द स्टेट्समैन, 1 अगस्त, 1979.
17. एन.डी. पामर, *इलेक्शन एण्ड पोलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया,* विकास, नई दिल्ली, 1976, पृष्ठ 60.
18. एल.डब्ल्यू. मव्रत, एम.एल गोयल, *पोलिटिकल पार्टीसिपेशन: हाउ एण्ड वाई डू पीपल गेट इन्वोल्व्ड इन पोलिटिक्स,* रैंड मैकनली, शिकागो, 1977, पृष्ठ 2–3.
19. शुरू से ही कुछ महिलाओं को व्यक्तिगत उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा गया था या कुछ अप्रासंगिक राजनीतिक दलों ने उन्हें टिकट दिया था। यदि हम मुख्य धारा की राजनीति में महिलाओं की वास्तविक स्थिति को समझने की कोशिश करते हैं, तो हमें अपना ध्यान केवल राज्य की प्रासंगिक राजनीतिक पार्टियों जैसे कि सीपीआई (एम), कांग्रेस, जीएनएलएफ, सीपीआई, आरएसपी, एआईएफबी, एआईटीएमसी और भाजपा पर रखना चाहिए और उनकी महिला उम्मीदवारों के लिए। यह हमें वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने में मदद करता है। इसलिए, इस संदर्भ में जब भी महिला प्रतिभागियों की कुल संख्या के आँकड़े प्रदर्शित होते हैं, तो यह उन उम्मीदवारों को संदर्भित करता है, जिन्होंने इन पार्टियों का प्रतिनिधित्व किया था।
20. तथ्य लेखक द्वारा संकलित किया गया है। डेटा की गणना लेखक द्वारा 1952, 1972 के चुनाव रिकॉर्ड से की गई है। अधिक जानकारी के लिए देखें डी. बनर्जी, *इलेक्शन रिकॉर्डर : एन अनालेटिकल रेफरेंस,* कोलकाता: स्टार पब्लिशिंग हाउस, 2012.
21. स्टेटिस्टीकल रिपोर्ट ऑन द लेजिस्लेटिव एसेम्बली ऑफ़ वेस्ट बेंगाल, 1977–2001, तथ्य लेखक द्वारा संकलित किया गया हैं। भारत के चुनाव आयोग, नई दिल्ली द्वारा संगृहीत।

22. तथ्य लेखक द्वारा संकलित किया गया है। डेटा की गणना लेखक द्वारा 1980 से 1999 के लोक समा चुनाव के रिकॉर्ड से की गई है। अधिक जानकारी के लिए देखें डी. बनर्जी, *इलेक्शन रिकॉर्डर : एन अनालेटिकल रेफरेंस,* कोलकाता: स्टार पब्लिशिंग हाउस, 2012.
23. पूर्वोक्त।
24. द स्टेट्समैन न्यूज पेपर से सूत्र एकत्र किए गए हैं। लेखक द्वारा डेटा की गणना की गई है।
25. द स्टेट्समैन, *द हिंदू, आनंदबाजार पत्रिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,* वर्तमान जैसे विभिन्न समाचार पत्रों से स्रोत एकत्र किए गए हैं। डेटा की गणना लेखक द्वारा की गई है।
26. पूर्वोक्त।
27. अलोका रॉय, 'वीमेन रिप्रेजेंटेशन इन इलेक्टोरल पोलिटिक्स इन वेस्ट बेंगाल', *एशियन जर्नल ऑफ मल्टीडिसिप्लिनरी स्टडीज,* वॉल्यूम– 5, अंक 5, मई 2017, पृष्ठ 53.
28. हिंदुस्तान टाईम्स, 10 फरवरी, 2012.
29. 2005 में सीपीआई (एम) की 18 वीं पार्टी कांग्रेस, नई दिल्ली में आयोजित हुई और वृंदा करात को पोलित ब्यूरो सदस्य के रूप में चुना गया।
30. विद्या मुंशी, 'पोलिटिकल पार्टिसिपेशन', जसोधारा बागची (संपादित), *द चेन्जिंग स्टेटस ऑफ़ वीमेन इन वैस्ट बेंगाल,* 1970–2000: *द चेलेन्ज अहेड,* सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ 90–91.
31. पूर्वोक्त, पृष्ठ 91.
32. पूर्वोक्त।
33. 'आवर टास्क्स ऑन पार्टी ओर्गनाईजेशन', सीपीआईएम की केंद्रीय समिति द्वारा ग्रहण किया गया, कालीकट सत्र–1967 (28 अक्टूबर–2 नवंबर 1967); और सीपीआईएम की केंद्रीय समिति द्वारा अपनाए गए संकल्प को 9–15 मार्च, 1973 में मुजफ्फरपुर अधिवेशन में अपनाया गया।
34. संदीप कुमार घटक, 'पॉलिटिकल पार्टिसिपेशन ऑफ़ वूमेन ऑफ़ वेस्ट बेंगल इट्स नेचर एंड एक्सटेंड', *द इंडियन जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस,* जनवरी–मार्च, 2010, वॉल्यूम–71, अंक–1, पृष्ठ. 289.
35. त्रीजिता गोंसाल्वेस, 'वेयर आर द वूमेन?: ए स्टडी ऑफ़ इलेक्टोरल प्रोमिसेस इन द वेस्ट बेंगाल असेम्बली इलेक्शस', *द इंडियन जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस,* अक्टूबर–दिसंबर 2011, वॉल्यूम–72, अंक–4, पृष्ठ 983.
36. संघमित्रा सेन चौधुरी, *वूमेन एण्ड पॉलिटिक्स: वेस्ट बेंगाल ए केस स्टडी,* मिनर्वा एसोसिएट्स, कलकत्ता, 1995, पृष्ठ 128–133.